शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : भानुभाई मूलजीभाई लाखाणी 卐

सितम्बर : १९६१ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, भाद्रपद, वीर नि०सं० २४८७ ☆ अंक : ५

हित का उपाय

✤ तुझे अपना हित करनाहै ?

—हाँ, मैं जरूर अपना हित करना चाहता हूँ।

✤ तेरा हित तुझमें ही होगा या किसी दूसरे में ?

—मेरा हित तो मुझमें ही होगा, दूसरे में मेरा हित कैसे हो सकता है ?

✤ तो फिर अपने में जो हित करना है, वह अपनी ओर देखने से होगा या पर की ओर देखने से ?

—अपने में जो हित कार्य करना है, वह तो अपनी ओर देखनें से ही होगा, पर की ओर देखने से नहीं हो सकता। परोन्मुखता से तो अपना हित चूक जाता है।

✤ बस! तो फिर अपना हित साधने के लिये तू अपने में ही देख... पर से भिन्नत्व को जानकर स्वोन्मुख हो.... यही हित का उपाय है।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१९६]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सोनगढ़ समाचार

पूज्य सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी सुख शांति से विराजते हैं, सबेरे प्रवचन में श्री अष्टपाहुड़ शास्त्र का छठवाँ अधिकार मोक्षपाहुड तथा दोपहर में श्री समयसारजी गाथा ३१ आदि पर प्रवचन होते हैं, दशलक्षण पर्व भादवा सुदी ४ से १४ तक है, आश्विन वदी १ क्षमावाणी पर्व है। जैनदर्शन शिक्षणवर्ग में उत्तर भारत के तत्त्वजिज्ञासुओं की ज्यादा संख्या है। शिक्षण में-जैन तत्त्वमीमांसा, जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, द्रव्यसंग्रह, लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका लिया गया है।

★

—विज्ञप्ति—

सावधान—हमारी संस्था का नाम देकर कोई आदमी अनेक युक्ति द्वारा समाज को ठगते हैं, मंदिरजी को सतरंजी भेंट देंगे आदि कई बातें बताकर प्रसिद्ध आदमी का नाम देकर या रसीद बुक दिखाकर ठगते हैं, ऐसे ठगों से सावधान रहिये। हमारी संस्था से कोई ऐसा आदमी भ्रमण नहीं करता है, सो जानें।

—प्रकाशक

★

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

श्री नियमसारजी

(सेठी दि० जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित)

महान आध्यात्मिक भगवत शास्त्र, संस्कृत टीका सहित, जिसकी तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा काफी जोरों से माँग है, पूर्ण रूप से संशोधित, यह ग्रन्थ महान पवित्र तत्त्वज्ञान की अपूर्व निधि समान है। पृष्ठ संख्या ४१५ बड़े साइज में, कपड़े की सुन्दर मजबूत जिल्द मूल्य ५.००) मात्र, पोस्टेज अलग। थोक लेने पर कमीशन २५) सैं० देंगे। जिज्ञासुगण शीघ्र आर्डर भेजें।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : भानुभाई मूलजीभाई लाखाणी

सितम्बर : १९६१ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, भाद्रपद, वीर नि०सं० २४८७ ☆ अंक : ५

मोह को क्षय करने का उपाय

मोक्ष का उपाय

रागद्वेष छोड़कर स्वाश्रयस्वभाव में अभेद होना, सो सम्यक्चारित्र है, और रागद्वेषरहित स्वाश्रयस्वभाव की श्रद्धा, सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन होने से चैतन्य-चिन्तामणि की प्राप्ति हुई, किंतु जितनी परोन्मुखता होती है, उतना ही चैतन्य अनुभवरत्न चोरी चला जाता है। इसलिये सर्व शुभाशुभ से रहित होकर, स्वरूप में सम्पूर्ण जागृत रहना ही मोक्ष प्राप्त करने का उपाय है।

सच्चा प्रतिक्रमण

प्रथम अपने शुद्धात्मा की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन प्रगट करके मिथ्याश्रद्धारूप महापाप से हट गया-वही मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है, और पश्चात् शुद्धस्वरूप में स्थिरता प्रगट करके रागद्वेष से पीछे हटा—वह अव्रत इत्यादि का प्रतिक्रमण है। सर्वप्रथम मिथ्यात्व के प्रतिक्रमण के बिना किसी भी प्रकार का प्रतिक्रमण होता ही नहीं। यहाँ पर सम्पूर्ण मोह का क्षय करके मोक्षदशा प्रगट करने की बात चल रही है। सम्यग्दर्शन होने पर भी यदि जीव, रागद्वेष को न छोड़ तो वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाता।

धर्म और अधर्म

जो द्रव्य-गुण-पर्याय से अरिहंत के यथार्थ स्वरूप को ही न जानें—वैसे जीवों के तो धर्म होता नहीं। पुण्य-पाप को अपना स्वरूप मानना और उससे लाभ मानना, सो मिथ्यात्वरूपी सबसे महान अधर्म है। अरिहंत जैसा अपना परमार्थस्वभाव जानकर उसकी श्रद्धा करे अर्थात् पुण्य-पापरहित अभेद चैतन्यमय स्वभाव है, उसमें एकता करने से लाभ मानना और पुण्य-पाप से लाभ

न मानना, सो सम्यग्दर्शनरूपी प्रारंभिक धर्म है। पुण्य-पापरहित शुद्धात्मस्वरूप को जानने पर भी पुण्य-पाप में उपयोग की एकता करना, सो चारित्र की अपेक्षा से अधर्म है। और सम्यग्दर्शन प्रगट करके शुद्धात्मद्रव्य में ही पर्याय की एकता करना, सो चारित्रधर्म है।

शुभोपयोग का तिरस्कार

कलकत्ता, बम्बई जैसे बड़े शहरों में यदि जेब बाहर रखें तो जेब ही कट जाता है, वैसे ही यदि आत्मस्वरूप में से बाहर उपयोग को घुमायें तो शुद्ध आत्मा का अनुभव चोरी चला जाता है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् जितना शुभोपयोग में एकाग्र हो, उतना शुद्धता का भंडार लुटता है। इससे, सम्यग्दर्शन प्रगट करने के पश्चात् भी जीव को रागद्वेष दूर करके स्वरूप में अत्यन्त जागृत रहना योग्य है। आचार्यदेव ने यहाँ पर शुभोपयोग को तिलांजली देकर शुद्ध उपयोग की उग्रता बतलाई है।

सत् की प्ररूपणा करने का विकल्प, सो राग है और असत् को उखाड़ फेंकने का विकल्प, सो द्वेष है; यह दोनों शुभवृत्तियाँ हैं, इनसे शुद्ध उपयोग में भंग पड़ता है। सत् की ओर के राग में और असत् की ओर के द्वेष में यदि धर्म माने तो वह मिथ्यात्व है। और सम्यग्दर्शन के पश्चात् उस राग-द्वेष की वृत्ति उठे, उसमें धर्मी जीव धर्म नहीं मानते, तथापि उस वृत्ति से शुद्ध चारित्र लुटता है; इसलिये उन शुभोपयोग के अंशों को भी छोड़ने के लिये मैं तीव्र पुरुषार्थ द्वारा जागृत रहता हूँ। यदि आचार्यदेव के सम्पूर्ण शुद्धोपयोग की जागृति हो तो 'मैं जागृत रहूँ'—ऐसी वृत्ति भी क्यों हो? 'मैं जागृत रहूँ', ऐसी वृत्ति स्वतः ही अजागृतिरूप प्रमाद है। आचार्यदेव के शुभवृत्ति प्रवर्तमान है, किंतु उसे तोड़ने की भावना करते हैं। अहो! जिसप्रकार अरिहंतों ने मोह का क्षय किया है, वैसे ही हम भी इसी समय सम्पूर्ण शुद्ध उपयोग जागृत करके मोह का सर्वथा क्षय करेंगे और अरिहंत जैसा शुद्ध आत्मानुभव करेंगे। हमारे शुद्ध स्वभाव की पूर्ण स्थिरता को शुभोपयोग लूट लेता है, इससे उस शुभोपयोगरूप मोह को नष्ट करने के लिये अपने स्वरूप में अत्यन्त जागृत रहना योग्य है। अहो! आचार्य-भगवान की अंतर दशा कैसी है!

धर्मात्मा जीव को शुभोपयोग के समय सत्-असत् का विवेक कैसा होता है?

गृहस्थदशा में विद्यमान सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को यद्यपि शुभाशुभराग होता अवश्य है, किंतु उस राग को तोड़कर शुद्ध उपयोग की ही भावना उनके होती है। राग की भूमिका में सत् प्ररूपणा के

प्रति बहुमान न आये, और असत् प्ररूपणा को सुनकर 'यह मिथ्या है'—इसप्रकार अंतर में तिरस्कार (उखाड़ फेंकने का भाव) न आये तो उस जीव को सम्यग्दर्शन की भूमिका का आश्रय भी नहीं रहता। किंतु जहाँ तक वह वृत्ति रहती है, तब तक स्वरूप स्थिरता की भूमिका रुकी रहती है।

सत् के प्रति जो राग है, वह भी लुटेरा है, वह मोह के क्षय करने में कुछ भी सहायक नहीं है, उससे भी जीव को खेद होता है। यदि वह वृत्ति छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो, तभी मोह का क्षय होता है। किंतु जब रागद्वेष को सर्वथा छोड़कर स्वरूपस्थिरता न होती तो उस समय यदि सत् का बहुमान छूटकर किसी अन्य का बहुमान आये तो उस जीव का सम्यक्त्व ही लुट जाता है। अपने को वीतरागता नहीं हुई है और रागद्वेषरूप विकल्प उठते हैं—तथापि यदि सत्-असत् का विवेक करके सत् के बहुमान का और असत् को उखाड़ देने का विकल्प न उठे तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। असत् प्ररूपणा को सुनकर 'यह असत् है'—ऐसा ध्यान में आता है, तथापि जिस जीव के अंतरंग से उसके उत्थापन की वृत्ति नहीं उठती और अन्यत्र राग-द्वेष होता है, उस जीव को सम्यग्दर्शन की भूमिका के राग का विवेक नहीं है, उसे सम्यग्दर्शन भूमिका ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि के जब विकल्प होता है, तब उसकी उन्मुखता सत् के बहुमान की ओर ही होती है। यदि विकल्प तोड़कर शुद्धोपयोग से आत्मा में लीन हो जाये तो पूर्णता प्रगट होती है, उसे तो किसी के प्रति रागद्वेष की वृत्ति होती ही नहीं; किंतु सम्यग्दर्शन के पश्चात् अस्थिरदशा में जब रागद्वेष की वृत्तियाँ होती हों, उस समय सत् का बहुमान और विवेक तो होना ही चाहिये।

राग-द्वेष को दूर करने के लिये जागृत रहना योग्य है

जो शुभाशुभ वृत्तियाँ उठती हैं, वे सम्यक्श्रद्धा को हानि नहीं पहुँचातीं, किंतु सम्यक्चारित्र को लूटती हैं। केवलज्ञान की तैयारीवाले छट्ठे-सातवें गुणस्थान में विद्यमान मुनिराज के भी शुभाशुभ वृत्तियाँ, सम्पूर्ण शुद्धचारित्रदशा को रोक देती हैं—केवलज्ञान को रोक देती हैं। इसलिये यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि मुझे रागद्वेष को दूर करने के लिये जागृत रहना योग्य है।

क्या करने से जीव मुक्त होता है ?

भावार्थ—'८०वीं गाथा में दर्शाये उपाय से दर्शनमोह को दूर करके अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करके जो जीव शुद्धात्मा की अनुभूतिस्वरूप वीतरागचारित्र के प्रतिबंधक राग-द्वेष को छोड़ता है, पुनः पुनः राग-द्वेषभावरूप परिणमित नहीं होता, वही अभेदरत्नत्रयपरिणत जीव शुद्धबुद्ध एकस्वभाव आत्मा को प्राप्त करता है-मुक्त होता है।

रागादि से भिन्न शुद्ध आत्मस्वरूप को जानकर सम्यग्दर्शन प्रगट करने के पश्चात् राग-द्वेष को दूर करने की बात है। जिसने रागादि से भिन्न आत्मस्वरूप को जाना ही नहीं, वह जीव राग-द्वेष को किसप्रकार दूर करेगा? इससे प्रथम ही ८०वीं गाथा में सम्यग्दर्शन प्रगट करने का उपाय बतलाकर, फिर राग-द्वेष को दूर करने की बात की है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् यदि स्वरूपानुभव में ही जीव अपने उपयोग को लीन करता है तो उसके पुनः पुनः रागादि नहीं होते; वह जीव अभेदरत्नत्रयस्वरूप परिणमित हो गया है, उसके राग-द्वेषरूप विकल्प टूटकर स्वरूप की एकाग्रता होने से रत्नत्रय का भेद टूटकर उसका अभेदत्व हुआ, अर्थात् उसे स्व में ही श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की एकता हुई है। ऐसा वह जीव शुद्ध-बुद्ध एक ज्ञानस्वभावी आत्मा को प्राप्त करता है, अर्थात् वह केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त होता है।

जीव को स्वरूप में अत्यंत सावधान रहना योग्य है

'इससे जीव को सम्यग्दर्शन और सरागचारित्र प्राप्त करके भी राग-द्वेष को दूर करने के लिये अत्यंत सावधान रहना योग्य है।' द्रव्य से, गुण से और पर्याय से मेरा स्वरूप अरिहंत जैसा है, राग या अपूर्णता मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा बराबर समझकर, प्रथम तो सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये, और इस सम्यग्दर्शनपूर्वक दीक्षा लेकर-शुद्धोपयोग द्वारा तीन प्रकार के कषायों का नाश करके, छट्ठा गुणस्थान प्रकट करे तो भी वहाँ जो राग का अंश है, वह आत्मा की शुद्धता को रोकता है, इससे उस राग को दूर करने के लिये अर्थात् प्रमादरूपी चोर से शुद्धोपयोग का रक्षण करने के लिये स्वरूप में अत्यंत सावधान रहना योग्य है।

क्षायिकसम्यक्त्व और क्षपकश्रेणी

श्री आचार्यदेव ने पूर्णता की ही भावना भायी है। प्रथम ८० वीं गाथा में क्षायिक सम्यग्दर्शन की बात की है और पश्चात् इस गाथा में क्षपकश्रेणी की बात की है। अहो! आचार्यदेव अपनी अंतर भावना को बराबर लड़ाते हैं ॥८१॥

तीर्थंकरों ने क्या किया और क्या कहा?

मोह का सर्वथा नाश करके सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा की प्राप्ति करने का उपाय आचार्यदेव ने दो गाथाओं में कहा है। अब, इस गाथा में समस्त तीर्थंकरों को साक्षीरूप से रखकर आचार्यदेव कहते हैं कि जो उपाय यहाँ वर्णित किया है, वही उपाय समस्त तीर्थंकरों ने स्वतः किया है और जगत के भव्य जीवों को भी उन्होंने इसी का उपदेश किया है। उन्हें नमस्कार हो!

अब, यही एक (जो पूर्वोक्त गाथाओं में वर्णित किया है) भगवंतों द्वारा स्वत: अनुभवन करके दर्शाया हुआ नि:श्रेयस (मोक्ष) का पारमार्थिक पंथ है—इसप्रकार मति को व्यवस्थित करते हैं:—

सव्वे वि य अरहंता, तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं, णिव्वादा ते णमो तेसिं॥८२॥
'अर्हंत सौ कर्मो तणो, करी नाश अेज विधि वडे,
उपदेश पण अेमज करी, निर्वृत थया; नमुं तेमने।'

अर्थ:—सभी अरिहंत भगवंतों ने इसी विधि से कर्मांशों का (ज्ञानावरणीयादि कर्मभेदों का) क्षय करके तथा (अन्य सबको भी) इसीप्रकार उपदेश देकर मोक्ष को प्राप्त किया है। उनको नमस्कार हो!

उपर्युक्त ८२ वीं गाथा का विस्तृत प्रवचन आगे दिया जायेगा। साथ ही ८०-८१-८२ तीनों गाथाओं का सार भी आगे दिया जायेगा। इन गाथाओं में सभी तीर्थंकरों के उपदेश का सार आ जाता है। समस्त तीर्थंकरों ने क्या किया और उपदेश में जगत को क्या कहा? वह उनमें स्पष्टरूप से भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है।

शुद्धोपयोग ही अरिहंतों का मार्ग है

स्वत: भगवान होने के लिये, भगवान के समान अपने आत्मा को पहिचान करना चाहिये। पुण्य-पापरहित ज्ञानानन्दस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और उसमें स्थिरतारूप जो शुद्धोपयोग है, वही मोक्ष के लिये एकमात्र उपाय भगवान ने कहा है। इससे विरुद्ध जो अन्य उपाय कहता हो, वह अरिहंतों के मार्ग पर चलनेवाला नहीं है। सर्वज्ञ भगवान द्वारा स्वत: देखे हुए, किये हुये और उपदेशित वस्तुस्वरूप के नियम को जाने बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और मोह दूर नहीं होता। विकार आत्मा का स्वभाव नहीं है—ऐसा भगवान ने जाना है, और विकार को दूर करके शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञानदशा प्रगट की है। जगत के जीवों को ऐसे शुद्धस्वरूप का उपदेश किया है। इसप्रकार श्री जिनेन्द्र भगवान 'मग्ग देसियाणं' मार्गदर्शक हैं। भगवान ने मोक्षमार्ग जैसा था, वैसा ही दिखाया है, कोई नवीन मार्ग नहीं बनाया है।

जो मार्ग हमारा है, वही तुम्हारा भी है

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! भगवान की वाणी परम विश्वास योग्य हैं। भगवान कहते हैं कि, स्वभाव के आश्रय से मोह राग-द्वेष का क्षय करना ही मोक्षमार्ग है; कोई राग,

मोक्षमार्ग में सहायक नहीं है। पंचमकाल में जो हीन पुरुषार्थी जीव होंगे, उनके लिये भी यही एक धर्म का मार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। हमारी भाँति दूसरे मुमुक्षुओं को भी भविष्यकाल में यही मार्ग है। हममें और तुममें वास्तव में कोई अंतर नहीं है; हम भी आत्मा हैं और तुम भी आत्मा हो! हमारा स्वरूप पुण्य-पापरहित और तुम्हारा स्वरूप भी पुण्य-पापरहित है। तुम्हारी पर्याय में पुण्य-पाप होते हैं, किंतु हम कहते हैं कि वह विकार तुम्हारा स्वरूप नहीं हैं। इसलिये विकाररहित अपने पूर्ण स्वरूप को समझकर उसका आश्रय करो—यही मोक्ष का पंथ है। जैसे सभी सिद्धों का स्वरूप एक ही प्रकार का है, उसीप्रकार सभी मुमुक्षुओं को सिद्ध होने का उपाय भी एक ही प्रकार का है।

स्वाश्रयभाव ही मोक्षमार्ग है

स्वाश्रय अर्थात् अपने शुद्धआत्मा का आश्रय, स्वभाव में एकता स्वाश्रय, सो सम्यग्दर्शन -सम्यग्ज्ञान है, और वही सम्यक्चारित्र है। इसप्रकार स्वाश्रय ही मोक्षमार्ग है; जो पराश्रयभाव होते हैं, वह मोक्षमार्ग नहीं हैं। व्यवहाररत्नत्रय के शुभपरिणाम भी पर के आश्रय से होते हैं, वह मोक्षमार्ग नहीं है। ऐसे ही उपाय से भगवान अरिहंत हुए और स्वतः इसीप्रकार का उपदेश दिया। श्री कुन्दकुन्द भगवान स्वतः स्वाश्रित मोक्षमार्ग का अनुभव करके उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो उपाय हमने बताया है, वही उपाय सभी तीर्थंकरों ने किया था और उपदेश में भी वही कहा था। वर्तमान में स्वतः स्वभाव स्वाश्रित निर्णय किया, उसमें त्रिकाल का निर्णय आ जाता है।

भगवान क्या करके मोक्ष को प्राप्त हुए?

पूर्ण शुद्धोपयोग प्रगट होने से पूर्व व्यवहाररत्नत्रयरूप राग आता अवश्य है, किंतु उसके द्वारा कर्मों का क्षय नहीं होता। निश्चय स्वभाव के आश्रय से कर्म का क्षय होकर केवलज्ञान होता है—ऐसा स्वतः आत्मा में अनुभव करके और उसीप्रकार सबको उपदेश करके अरिहंत प्रभु निःश्रेयस (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं।

तीर्थंकरों ने जगत के जीवों को उत्तराधिकार में 'स्वाश्रितमोक्षमार्ग' दिया है।

भगवान मोक्ष जाने से पूर्व जगत के मुमुक्षु जीवों को उत्तराधिकार में मोक्ष का उपाय सौंप गये हैं। हम इस उपाय से मोक्ष प्राप्त कर रहे हैं, और जगत के मुमुक्षु भी इसी उपाय से मोक्ष प्राप्त

करेंगे। जैसे अंतिम समय पिता अपने पुत्र को धन-सम्पत्ति सौंप देता है, और सीख देता है, उसीप्रकार यहाँ परम धर्मपिता सर्वज्ञदेव परम वीतराग आप्तपुरुष, मुक्ति प्राप्त करने से पूर्व (सिद्ध होने से पूर्व) तीर्थंकर पद पर आरूढ़ होकर दिव्य उपदेश द्वारा जगत के भव्यजीवों को मोक्ष का उपाय दर्शाते हैं—उनके स्वभाव की सम्पत्ति सौंपते हैं। हे जीवों! तुम्हारा आत्मा सिद्धसमान शुद्ध है, उसे जानकर उसकी शरण लो! स्वभाव की शरण, सो मुक्ति का कारण है, बाह्य का आश्रय बंध का कारण है। धर्मपिता तीर्थंकर ऐसा स्वाश्रित मोक्ष का पंथ बतलाकर सिद्ध हुए हैं। अहो! उन्हें नमस्कार हो!

साधक आत्मा के परमपिता श्री तीर्थंकर देव हैं, वे सलाह देते हैं कि हे जीवों! आत्मा को जानो-पहिचानो। सत्पदार्थ आत्मा स्वाधीन है, वह पराश्रय रहित स्वतः से परिपूर्ण है।

भगवान को स्वाश्रयभाव की पूर्णता होने से केवलज्ञान होता है। उससमय समवसरण की रचना होती है, दिव्यवाणी ॐ वीतरागभाव से खिरती है और वह उपदेश बारह सभाओं के जीव सुनते हैं। भगवान की वाणी में ऐसा उपदेश है कि—भाई! आत्मा को पहिचानो! सर्वप्रकार के आत्मस्वरूप का ही आश्रय करो, वही मुक्ति का मार्ग है। प्रथम भगवान ने स्वतः ऐसे उपाय से पूर्ण दशा प्रगट की और पश्चात् भव्यों को ऐसा ही उपदेश देकर प्रभुश्री परम कल्याणस्वरूप मुक्ति को प्राप्त हुए। इसलिये मुक्ति का यही मार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। तीर्थंकरों ने दुंदभी के नाद के बीच दिव्यध्वनि से यह एक ही मार्ग जगत के जीवों को दर्शाया है; यहाँ पर आचार्यदेव स्वतः वर्तमान में अनंत तीर्थंकरों के उपदेश की घोषणा करते हैं। जैसे बड़ा भाई छोटे भाई से कहता है कि 'अपने पिताजी तो ऐसा कह गये हैं' वैसे ही आचार्यदेव जगत के जीवों से कहते हैं कि परमपिता अरिहंत भगवान इसप्रकार से मुक्ति का मार्ग कह गये हैं।

स्वाश्रय को स्वीकार करनेवाला जीव कैसा होता है ?

जिसने अरिहंत समान अपने आत्मा को स्वीकार किया और स्वाश्रयभाव को स्वीकार किया, उस जीव ने वास्तव में रागादि का आश्रय छोड़कर ज्ञानस्वरूपी आत्मा का ही आश्रय किया है। जिसने ज्ञानस्वरूपी आत्मा का आश्रय लिया है, उसके मोह का क्षय होकर मुक्ति हुए बिना रहती ही नहीं; उसे कर्म की अथवा काल की शंका नहीं पड़ती। जिसने स्वभाव का आश्रय नहीं किया, उसी जीव को ऐसी शंका पराश्रय से होती है कि 'अभी मेरी मुक्ति का काल ही नहीं आया होगा तो ? मेरे कर्म निकाचित होंगे तो ? अभी अनंत भव शेष होंगे तो ?' किंतु जिसने अपने

ज्ञान स्वभाव का आश्रय किया है-श्रद्धा-ज्ञान किये हैं, वह जीव, काल अथवा कर्म का आश्रय करता ही नहीं; उसके स्वभाव के आश्रय से मुक्ति का काल पक ही गया है, और कर्म की स्थिति भी पक गई है।

जिनशासन में स्वाश्रय के पुरुषार्थ का आदेश है, पराश्रय का नहीं

'जिस जीव की भवस्थिति पक चुकी है, उसके लिये यह स्वाश्रय का उपदेश है'—ऐसा आचार्यदेव नहीं कहते। काल का आश्रय नहीं बतलाते, किंतु आत्मा का आश्रय बतलाते हैं। पुरुषार्थ द्वारा जो आत्मा का आश्रय करे, उसकी भवस्थिति पक ही गई है। यदि तू स्वाश्रय का पुरुषार्थ करे तो तेरी मुक्ति है और यदि वह पुरुषार्थ नहीं करेगा तो तेरी मुक्ति नहीं होगी। जिसने काल की या कर्म की ओट ली, उसने पर का आश्रय लिया है। पर के आश्रय से भगवान ने मुक्ति नहीं कही है।

प्रश्न—जिसके अर्द्धपुद्गलपरावर्तन संसार शेष हो, उसे सम्यग्दर्शन होता है—ऐसा शास्त्रों में आता है या नहीं?

उत्तर—वहाँ भी कोई पराश्रय नहीं बतलाया किंतु स्वभाव का ही आश्रय बतलाया है। सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाई है कि—जो जीव स्वभाव का आश्रय करके सम्यग्दर्शन प्रगट करे, उस जीव के अर्द्ध-पुद्गलपरावर्तन से अधिक संसार तो नहीं ही होता। जो स्वभाव का आश्रय करे, उसके संसार की लम्बी स्थिति होती ही नहीं। स्वाश्रय से ही निर्वाण है, ऐसा भगवान ने कहा है। स्वाश्रित मोक्षमार्ग में कोई अन्य पदार्थ आड़े आयें—ऐसा नहीं है।

जिनेन्द्र देवों ने आत्मस्वभाव की ओर के पुरुषार्थ से मुक्ति प्राप्त की है और दिव्यध्वनि में जगत के जीवों को पुरुषार्थ का ही उपदेश किया है। हे जगत के जीवो! संसार समुद्र से पार होने के लिये सच्चा पुरुषार्थ करो! जो जीव श्री जिनेन्द्रदेव के उपदेशानुसार पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करते हैं, उनकी तो काललब्धि और भवितव्य भी हो चुके हैं और कर्म का उपशमादि भी हुआ है। इसलिये जो पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करते हैं, उन्हें तो अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है। और जो जीव पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय नहीं करते, उनके तो काललब्धि और भवितव्य भी नहीं है, तथा कर्म का उपशमादि भी नहीं है। इसलिये जो पुरुषार्थ नहीं करता, उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

जिनेश्वर देवों ने स्वाश्रय का पुरुषार्थ किया और वे उसी का उपदेश भी देते हैं। उनके

स्वाश्रयपुरुषार्थ करने के उपदेश को सुनकर जो जीव वैसा करते हैं, वे अवश्य मुक्ति प्राप्त करते हैं। जिन्हें अपने स्वभाव की पूर्णता का संतोष नहीं है—विश्वास नहीं है, वही पर का आश्रय करते हैं, वे जीव कभी बंधन से मुक्त नहीं होते। भगवान ने तो आत्मा का पूर्ण स्वभाव बतलाकर उसी के आश्रय का पुरुषार्थ करने को कहा है, वैसा न मानकर विपरीत माने तो मुक्ति कहाँ से होगी?

सर्वज्ञ का अनुकरण करके उन्हीं जैसा पुरुषार्थ करो!

शरीरादि स्वस्थ रहें या अशक्त रहें, उनका आश्रय छोड़, देव-गुरु-शास्त्र का आश्रय छोड़, राग का आश्रय छोड़ और क्षणिक पर्याय का आश्रय भी छोड़ दे; सम्पूर्ण स्वभाव को जानकर उनका आश्रय कर! अपने आत्मा में विकार की एकता न करके जैसा स्वभाव है, उसे वैसा ही-यथावत् रखे तो तेरी मुक्ति हो। अपने आत्मा को सर्वज्ञ समान जानकर तू सर्वज्ञ का अनुकरण करके उन जैसा पुरुषार्थ कर। सर्वज्ञदेव ने स्वाश्रय किया है, उसीप्रकार तू भी अपने आत्मा का स्वाश्ररू कर। अज्ञानी जीवों की आड़ लेकर पराश्रय मत कर। दिवालिया मनुष्य दूसरे दिवालिया की आड़ लेकर कहता है कि उसने तो रुपये में छह आने देकर ही चुकाया है और मैं तो आठ आने दे रहा हूँ; किंतु जो साहूकार है, वह वैसा नहीं करते; वे पूरा रुपया देकर ही चुकाते हैं। उसीप्रकार भगवान का भक्त साधक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा तो भगवान जैसा ही अपने को मानकर पूर्ण स्वाश्रय का पुरुषार्थ करता है। अज्ञानी जीव पराश्रय को ही ढूँढ़ते हैं। धर्मीजीव काल अथवा कर्म की ओट लेकर पुरुषार्थ को निर्बल नहीं बनाते, पराश्रय को स्वीकार नहीं करते, किंतु अपने पूर्ण स्वभाव की ओट लेकर पूर्णता का पुरुषार्थ ही करते हैं। पुरुषार्थहीन जीव पराश्रय में रुकते हैं, वे अपने घर रहें; मैं तो अपने स्वभाव का आश्रय करके पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति प्राप्त करनेवाला हूँ। मुक्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं है—ऐसी आचार्यदेव इस गाथा में घोषणा करते हैं।

अपना आत्मा वर्तमान में ही परिपूर्ण भगवान जैसा है, धर्मात्मा जीव उसी का आश्रय करते हैं। जो स्वभाव का आश्रय करते हैं, वे विकार को अपना स्वरूप नहीं मानते और जो विकार को अपना स्वरूप मानते हैं, वे कभी भी विकार का आश्रय छोड़कर स्वभाव का आश्रय नहीं करते और उनके स्वाश्रय का पुरुषार्थ भी प्रगट नहीं होता। पूर्व का विकार वर्तमान में बाधक हो अथवा पूर्व के अच्छे संस्कार हों, तभी इस समय धर्म हो सकता है; इसप्रकार धर्मात्मा जीव पूर्व-पर्याय का आश्रय नहीं करते, किंतु अपना स्वभाव इस समय भी पूर्ण है, इसे स्वीकार करके उसी का आश्रय करके

दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता को प्राप्त होते हैं। यही मोक्ष का उपाय है। यह 'पंचम काल है, इसलिये अभी पूर्ण पुरुषार्थ नहीं होता' ऐसा नहीं है, किंतु जीव स्वतः स्वाश्रय में सम्पूर्णरूप से स्थिर नहीं हो सकता—उस अपनी पर्याय के कारण पुरुषार्थहीन है। स्वाश्रय की पूर्णता नहीं करता, इसलिये मोक्ष नहीं होता।

स्वाश्रय के अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग किसी काल में नहीं है।

भविष्य के मुमुक्षुओं को भी तीर्थंकरों ने इसीप्रकार के स्वाश्रित मोक्षमार्ग का उपदेश किया है। भविष्य में होनेवाले तीर्थंकर भी ऐसा ही उपदेश करेंगे। भविष्य में जो तीर्थंकर होंगे, वे भी प्रथम तो मुमुक्षु होकर भगवान का उपदेश सुनकर ही होंगे, इसलिये उनका समावेश भी मुमुक्षुओं में हो जाता है। पंचम काल में अथवा अनंत काल में समस्त जीवों को अपने आत्मस्वभाव के आश्रय के अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। अन्य सम्प्रदायों में तो कभी मोक्षमार्ग होता ही नहीं; सत्य जैन सम्प्रदाय में भी किसी जीव को निमित्त के आश्रय से, राग के आश्रय से, व्यवहार के आश्रय से, अथवा किसी संयोग के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है। शुद्ध वस्तुस्वभाव के आश्रय से ही जैनमत में ही मोक्षमार्ग है। सभी तीर्थंकरों ने ऐसा ही किया है और ऐसा ही कहा है, इससे यही निर्वाण का मार्ग है, दूसरा मार्ग नहीं है—ऐसा बराबर निश्चित होता है।

आचार्यदेव स्वतः को प्रगटे हुए स्वाश्रय की निःशंक घोषणा करते हैं

'अथवा, प्रलाप से बस हो! हमारी मति व्यवस्थित हुई है;' तीर्थंकरों ने जो उपदेश किया, सो तो किया ही है; मैंने यह निश्चय करके कि अपने आत्मा में स्वाश्रय से ही मुक्ति होती है, स्वाश्रयभाव का अंगीकार किया है। इसलिये अब विशेष विकल्पों से बस हो, बस हो! मेरी मति स्वाश्रय में स्थिर हुई है। भगवान अरिहंतों ने ऐसा किया और इसप्रकार उपदेश दिया—ऐसे पर की ओर के विकल्पों से अलम्-अलम् बस हो! बस हो! स्वभाव की प्रतीति और आश्रय के द्वारा विकल्प तोड़कर ज्ञान अपने स्वरूप में स्थिर हुआ है। अब मेरी मति में स्वाश्रय के अतिरिक्त अन्य का अवकाश नहीं है। स्वाश्रय के अतिरिक्त अन्य कुछ मानने का अवकाश नहीं है, और यदि विकल्प उठे तो स्वाश्रय के अतिरिक्त किसी अन्य की प्ररूपणा का अवकाश ही नहीं है। अहो! मेरे आत्मा ने अंतरंग से स्वाश्रय का स्वीकार करके वह भाव प्रगट किया है। स्वभाव का आश्रय किया, वह कभी भी बदलनेवाला नहीं है, और पराश्रय की श्रद्धा कभी नहीं होगी। जो स्वभाव के आश्रय

का निश्चय किया है, उसी निश्चय के मंथन से स्वरूप स्थिरता की पूर्णता प्रगट करके, मोह का सर्वथा क्षय करके हम केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं—इसप्रकार आचार्यदेव अपनी नि:शंकता की घोषणा करते हैं। स्वत: को स्वभाव का बराबर निश्चय हुआ है और मति व्यवस्थित हुई है—ऐसी नि:शंक खबर छद्मस्थ जीव को पड़ती है। जिस क्षण पराश्रय छोड़कर स्वाश्रय किया, उसी क्षण स्वाश्रय की शांति का स्वत: को ही वेदन होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि अरिहंत भगवान के समान अपने चैतन्यमूर्ति स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके हमने अपने ज्ञान को स्थिर किया है, और वह हमने अपने अनुभव से जाना है। अब हमारी मति में परिवर्तन करने के लिये कोई समर्थ नहीं है। जिसने स्वभाव का निर्णय करके ज्ञान को स्वभाव में स्थिर किया है, उसने स्वाश्रित मोक्षमार्ग को अंगीकार किया है; स्वभाव के पराश्रय से प्रगट हुआ जो भाव है, वह निरंतर अभेदरूप से स्वभाव के साथ स्थिर रहता है। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि हमने अपने स्वभाव का आश्रय किया है, इससे मोह का क्षय करके अप्रतिहत भाव से केवलज्ञान प्रगट करनेवाले हैं। जिसप्रकार अरिहंत मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, वैसे ही हम भी इसीप्रकार का पुरुषार्थ करके मोक्ष प्राप्त करेंगे। भगवंतों को नमस्कार है!

आचार्यदेव नमस्कार करते हुए कहते हैं कि हे भगवान! मैं तुम्हारे पथ पर चला आ रहा हूँ।

स्वत: स्वाश्रय में मति स्थापित की है, परंतु अभी छट्ठे गुणस्थान में राग की वृत्ति उठती है; इससे आचार्यदेव, भगवान की ओर के उल्लास को प्रगट करते हुए कहते हैं कि अरिहंत भगवंतों को नमस्कार हो! अहो नाथ! आपने स्वभाव के आश्रय से मोह का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया है, वैसे ही मैं भी आपका उत्तराधिकार लेने के लिये स्वाश्रय से आपके पीछे चला आ रहा हूँ। अहो! जिन्होंने ऐसा पूर्ण स्वतंत्र स्वाश्रित मार्ग बतलाकर अनंत उपकार किया है, उन भगवंतों को मैं नमस्कार करता हूँ—अर्थात् मैं भी इस स्वाश्रय मार्ग को ही अंगीकार करता हूँ। भगवान के चरणकमलों में हमारा नमस्कार हो! आचार्यदेव स्वत: अपने मोक्ष के लिये उत्साह और उल्लास प्रगट करते हैं कि हे प्रभो! जिसप्रकार आपने मुक्ति प्राप्त की है, उसीप्रकार हम भी मोक्ष के मार्ग पर हैं, हम भी केवलज्ञान प्रगट करेंगे और वही उपदेश करके मोक्ष प्राप्त करेंगे। दूसरा क्या कहें, भगवंतों को नमस्कार हो! जिन जीवों के स्वाश्रय की रुचि हो और पराश्रय की रुचि दूर हो चुकी हो, वही जीव भगवंतों को नमस्कार करता है। वास्तव में भगवान ने जिस स्वाश्रय मार्ग का उपदेश

दिया है, वैसा ही समझकर अपने में भी वैसा ही स्वाश्रय प्रगट करना, सो भगवान को नमस्कार करना है।

प्रथम धर्म सम्यग्दर्शन, और उसे प्रगट करने का उपाय

अरिहंत भगवान के जैसे शुद्धद्रव्य, शुद्धगुण, और शुद्धपर्याय हैं, वैसे ही यह आत्मा भी द्रव्य, गुण और पर्याय से शुद्धस्वरूपी है। द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद शुद्ध चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करना, सो सम्यग्दर्शन है। जो राग-द्वेष होता है, वह द्रव्य में नहीं, गुण में नहीं और पर्याय का स्वरूप भी वह नहीं है। यदि पर्याय को शुद्धस्वभाव में अभेद करे तो पर्याय में विकार नहीं होता। जैसे अरिहंत के स्वरूप में रागद्वेष नहीं है, उसीप्रकार इस आत्मा के स्वरूप में भी नहीं है। इसप्रकार स्वभावदृष्टि करके, विकाररहित द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद शुद्धात्मा को जानने से मोह का क्षय होता है और पवित्र सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यही प्रथम धर्म है।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की ओर लक्ष्य रहे, वह राग है; धर्म नहीं। अपने आत्मा में द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करना भी राग है। एक अभेदवस्तु में द्रव्य-गुण-पर्याय, ऐसे तीन भेद परमार्थ से नहीं हैं। रागरहित और भेदरहित आत्मस्वरूप की प्रतीति, सो धर्म है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल निर्मल हैं और पर्याय में विकार है—ऐसे भेद करके उसके विकल्प में रुके तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा। पर्याय में दोष है, वह आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं है, क्योंकि अरिहंतों के आत्मा में यह नहीं है। इसलिये उस क्षणिक, विकार रहित सम्पूर्ण आत्मा को प्रतीति में-लक्ष्य में लेना, सो धर्म है। जितना केवली भगवान के आत्मा में हो, उतना ही इस आत्मा का स्वरूप है, और जितना अरिहंत के आत्मा में न हो, उतना इस आत्मा का स्वरूप नहीं है। केवली भगवान के दया-भक्ति के भाव नहीं होते, इससे वे भाव आत्मा का स्वरूप नहीं हैं।

जीव को कल्याणकारी कौन ?

तीन काल और तीन लोक में भी प्राणियों को सम्यक्त्व के समान अन्य कोई श्रेयरूप नहीं है; उसीप्रकार मिथ्यादर्शन के समान अन्य कोई अहितरूप नहीं है। *[रत्नकरण्डश्रावकाचार]*

शांति का उपाय

[समयसार गाथा ३९० से ४०४ के प्रवचनों से]

धर्मात्मा जीव आत्मा के स्वभाव को कैसा जानते हैं—यह उसकी बात कही जा रही है। जिसे धर्म करना हो, उसे अपने ज्ञान में आत्मा का यथार्थ मूल्य जानना पड़ेगा। ज्ञान में जिसकी महिमा हो, उसी में ज्ञान एकाग्र होता है। यदि पर की महिमा करके ज्ञान वहाँ एकाग्र हो तो वह अधर्म है और आत्मा की महिमा को समझकर यदि वहाँ एकाग्र हो तो वह धर्म है। जैसे-जिन जीवों को विषयों में या लक्ष्मी इत्यादि में सुखबुद्धि हुई है, वे जीव उसमें एकाग्र होते हैं—जीव की चिंता न करके वे विषयों में लीन हो जाते हैं, क्योंकि उनके ज्ञान में उनकी महिमा भासित हुई है; वैसे ही आत्मा का ज्ञानस्वभाव अनंत सुखस्वरूप है, पर से भिन्न है—उस स्वभाव की महिमा यदि ज्ञान में आये तो सबसे प्रयोजन छोड़कर ज्ञान अपने स्वभाव में स्थिर हो और यथार्थ शांति प्रगट हो; इसका नाम धर्म है। किंतु यदि ज्ञान में ज्ञात होनेवाले शब्दादि पदार्थ अथवा उन्हें जाननेवाले अल्पज्ञान जितना ही आत्मा का मूल्यांकन करे तो वह ज्ञान परविषयों में और पर्यायबुद्धि में ही रुक जायेगा, किंतु वहाँ से हटकर पूर्ण स्वभाव की ओर उन्मुख नहीं होगा और शांति प्रगट नहीं होगी।

हे भव्य! यदि तुझे शांति प्रगट करना है तो वह शांति परवस्तु में से नहीं आयेगी, परवस्तुओं के सन्मुख देखने से नहीं आयेगी, विकार या क्षणिक पर्याय की ओर देखने से नहीं आयेगी, किंतु यदि उन सबका लक्ष्य छोड़कर अपनी वर्तमान अवस्था को त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव में एकाकार करे तो त्रैकालिक स्वभाव के आधार से अवस्था में परिपूर्ण शांति प्रगट हो।

शब्दादि विषयों में किंचित् ज्ञान नहीं है—इससे उनसे तो आत्मा भिन्न है, और आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान है—आत्मा और ज्ञान किंचित् भिन्न नहीं हैं—ऐसा भेदज्ञान करके यदि स्वभावोन्मुख हो तो स्वभाव के आश्रय से जीव को सम्यक् मति-श्रुतज्ञान प्रगट हो और अल्प काल में ही भव का अंत आ जाये। इसके अतिरिक्त जो मति-श्रुतज्ञान परलक्ष्य से ही कार्य करे—वह मिथ्याज्ञान है। स्वलक्ष्य से सम्यग्ज्ञान प्रगट किये बिना कोई जीव कषाय को मन्द करे तो उसे पापानुबंधी पुण्य का बंध हो और साथ ही उसीसमय सम्पूर्ण आत्मस्वभाव के अनादररूप मिथ्यात्व से अनंत पाप बंध करे और अनंत भव बढ़ जायें।

अनेकांत

१. अनेकांत दो प्रकार का होता है (१) सम्यक् अनेकांत, (२) मिथ्या अनेकांत। देखो राजवार्तिक अध्याय १. सूत्र, ६. वार्तिक ७ संस्कृत पृष्ठ ३५। सम्यक् अनेकांत की व्याख्या श्री समयसार में निम्नप्रकार है:—

(१) तत्र यदेव तत्तदेवात्;

(२) यदेवैकं णदेवानेकं;

(३) यदेवसत्तदेवासत्;

(४) यदेवनित्यं तदेवानित्यंमित्येक वस्तुनि वस्तु निष्पादक विरुद्ध शक्ति द्वय प्रकाशक नमनेकान्तः (श्री समयसार स्याद्वाद अधिकार श्री अमृतचन्द्राचार्य टीका गुजराती आवृत्ति २, पृष्ठ ६०६-६०७)

'अनेकांत इति को अर्थः ? इति चेत् अेक वस्तुनि वस्तुत्व निष्पादकंअस्तित्व नास्तित्व द्वयादिस्वरूपं परस्परविरुद्धसापेक्ष शक्तिद्वयंत्तस्य प्रतिपादतेस्यादनेकांतो भण्यते' (श्री जयसेनाचार्य समयसार टीका। रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, पृष्ठ ५४५)

२. श्री फूलचन्दजी सम्पादित श्री पंचाध्यायी भा. २ गाथा ३३२ से ३५५ में निम्नप्रकार कहा है:—

'यदि कहा जाये कि एक ही आत्मा के एक अपेक्षा से सुखगुण की अभिव्यक्ति और एक अपेक्षा से दुःख, ये दोनों बन जायेंगे; क्योंकि अनेकांतवादियों के मत में एक ही आधार से दोनों की सिद्धि मानने में कोई बाधा नहीं आती, सो कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु में यद्यपि अनेकांत प्रमाण माना गया है, पर वह गुण और पर्याय इन दोनों में गौण और मुख्य व्यवस्था की अपेक्षा से ही प्रमाण माना गया है ॥३३२-३४॥ किंतु सुख-दुःख दोनों की अभिव्यक्ति पर्यायरूप से होती है, इसलिये पर्यायरूप से इनका द्वैत नहीं बन सकता। यदि किसी आत्मा में इनका द्वैत माना भी जाता है तो वह शक्ति की अपेक्षा से ही माना जा सकता है ॥३३५॥

[अतः जो कोई अनेकांत हो, वह वस्तुनिष्पादक होना चाहिये; वस्तुनाशक नहीं होना चाहिये।]

३. द्रव्यों में कितनीक भविष्य काल की पर्याय को निश्चित और कितनीक भविष्य की

पर्याय को अनिश्चित मानने से और सिद्ध, धर्मास्ति-अधर्मास्ति और काल की सब पर्याय निश्चित मानने से और विकारी अशुद्ध जीव की पर्यायों और पुद्गल स्कंधों की पर्यायों अनिश्चित (आगे-पीछे होनेवाली) मानने से एक भी द्रव्य और पर्याय सिद्ध नहीं होते हैं।

४- इस विषय में आनेवाले दोष निम्नप्रकार हैं:—

(१) उसका कोई स्व अस्तित्व (निश्चित) काल नहीं रहा, (प्रवचनसार गाथा ११३) रायचन्द्र ग्रन्थमाला प्रवचनसार, अध्याय २, गाथा २१ टीका।

(२) ज्ञान ज्ञेयगत और ज्ञेय ज्ञानगत, भगवान ज्ञेयगत और ज्ञेय भगवानगत नहीं रहा (प्रवचनसार, गाथा २६-३०-३१)

(३) ज्ञान को ज्ञेय अपना स्वरूप समर्पण करनेवाला न रहा और ज्ञान ज्ञेय का स्वरूप ग्रहण करनेवाला न रहा (प्रवचनसार गाथा २८, गाथा ३३ जयसेनाचार्य टीका)

(४) पर्याय क्रमशः होने पर भी तीनों काल की पर्याय अपना स्वरूप, हरेक समय में ज्ञान को अक्रम से—अकम्पपने से अर्पण करनेवाली न रही। (प्रवचनसार गाथा ३८ की टीका)

(५) काल अपेक्षा से भविष्य की पर्याय असत् होने पर भी भाव अपेक्षा से 'सत्' है, कारण कि अनादि-अनंत की सब पर्यायों '**ज्ञान प्रति नियत**' है, ऐसा न रहा (प्रवचनसार, गाथा ३८)

(६) भविष्य की पर्याय कथंचित् सद्भूत है, कथंचित् असद्भूत है—ऐसा **अनेकान्त** सिद्ध नहीं हुआ (प्रवचनसार गाथा ३८)

(७) सिद्ध जीवद्रव्य की पर्याय है, वह पर्याय क्रमबद्ध है—ऐसा तो सब मानते हैं, उसकी प्रत्येक ज्ञानपर्याय का विषय निश्चित है] इसलिये सब पर्यायें निश्चित हो गईं अर्थात् सब भविष्य की पर्याय निश्चित हो गई, ऐसा नहीं रहा।

५. पर्याय क्रमबद्ध-अक्रमबद्धरूप अनेकांत

(१) पर्याय का एक अर्थ अंश है और 'गुण' द्रव्य का एक अंश है, इसकारण गुणरूप पर्याय अक्रमबद्ध (युगपत्) और परिणमनरूप पर्यायें क्रमबद्ध (क्रमवर्ती) होते हैं। अर्थात् गुणों अक्रमबद्ध हैं—और पर्यायें सब क्रमबद्ध हैं, अक्रमबद्ध-अनिश्चित नहीं है। तीनों काल यह नियम वस्तुस्वभाव की मर्यादा में है ही है।

(२) स्व की अपेक्षा से पर्यायें सब क्रमबद्ध हैं और पर की अपेक्षा से क्रमबद्ध नहीं हैं, अर्थात् अक्रमबद्ध है (सप्तभंगी)

[नोंध – कोई पर्याय का निश्चितपनारूप (क्रमबद्ध) और कोई पर्याय का अनिश्चितपना के कारण अक्रमबद्ध हो, ऐसा अनेकांत असिद्ध है तो भी ऐसा मानना मिथ्या अनेकांत है (देखो, राजवार्तिक अध्याय १, सूत्र ६ में वार्तिक ७, पृष्ठ ३५)]

(३) संसारी जीव को चौदह मार्गणारूप पर्यायधर्म अक्रमरूप है (युगपत् है) और गुणस्थानरूप पर्यायधर्म क्रमरूप है।

(४) पर्यायें क्रमबद्धरूप है और उनका अविभागप्रतिच्छेद एक साथ होने से अक्रमबद्ध है।

(५) हरेक पर्याय का पाँच कारणों (१) स्वभाव, (२) पुरुषार्थ, (३) काल, (४) नियत, (भवितव्य–होनहार, क्रम–नियत–क्रमबद्ध) (५) कर्म (–परपदार्थ की पर्याय) यह पाँचों कारण एक साथ (समवायरूप) है, इसलिये चौथे कारण की अपेक्षा से (अर्थात् क्रमबद्ध, नियत, क्रमनियमित, भवितव्य; होनहार की अपेक्षा से) दूसरा चार कारण उनसे भिन्न होने से अक्रमबद्ध, अनियत, अक्रमनियमित, अभवितव्य, अणहोनहार है।

[वास्तविकरूप से यह क्रमनियमित, क्रमबद्धपर्यायें और भोग व्यवहार के उपचार कथन के योग्य जो अनियत, अक्रम तथा आगम–कथित जो चौदह मार्गणारूप अक्रम आदि सब पर्यायें तो क्रमबद्धरूप ही है और उसका अविभागप्रतिच्छेद युगपत् एक साथ होने से अक्रमबद्ध है।]

(६) 'समस्त क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तते हुए जो व्यवहारिक भाव उनसे चिन्मात्र आकारकर तो भेदरूप नहीं हुआ, इसलिये मैं एक हूँ' (समयसार, गाथा ३८ की टीका) यहाँ गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम आदि पर्याय सहवर्ती (अक्रम) है। क्रोध, मानादि क्रमवर्ती पर्याय है (राजवार्तिक टीका अध्याय ४, परिशिष्ट पृष्ठ ११९९ हिन्दी टीका मक्खनलालजी कृत)

(७) भूत–भविष्य पर्याय अविद्यमान होने पर भी अक्रम से अपना स्वरूप ज्ञान को (केवलज्ञान को) अर्पण करते हैं, इसलिये वे विद्यमान हैं, सद्भूत हैं (काल अपेक्षा से वे सब पर्यायें क्रमबद्ध हैं और अक्रम नहीं हैं, इसलिये अविद्यमान हैं, ऐसा कथंचित्पनारूप अनेकांत है)। (देखो, प्रवचनसार गाथा ३८ की टीका तथा उत्थानिका)

(८) गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ८७९ में आया हुआ एकांत नियतिवाद–सर्वज्ञ को–पुरुषार्थ को–दूसरे चार कारणों को और इस सम्यक् अनेकांत को मानते नहीं, इसलिये वे एकांतवादी हैं।

६. क्रम-क्रमप्रवृत्त-क्रमवर्ती-क्रमभावी-क्रमअनुपाती-क्रमनियमित-क्रमबद्ध-सुनिश्चित पर्याय (वर्तमान हो या भूत-भविष्य हो) सबको लागू पड़ता है।

(१) सब परद्रव्य की पर्यायों क्रमनियमित अर्थात् सुनिश्चित क्रमरूप होने से मैं उसका क्या कर सकूँ ? इसलिये जीव की अनादि की कर्ताबुद्धि छूट जाती है और स्वसन्मुख दशा होती है, अर्थात् जिसने अपनी पर्याय स्वसन्मुख नहीं की, उसको 'क्रमनियमित' आदि का गम्भीर अर्थ ज्ञात नहीं होता। (श्री समयसार गाथा ३०८ से ३११ में कर्तापना छुड़ाया है।)

(२) जब अपने अपनी सन्मुख होकर अपना स्वरूप का ज्ञातादृष्टा हुआ, तब अपनी पर्याय में फेरफार करने का अभिप्राय नहीं होता, जो सम्यक् प्रकार से अपना स्वरूप का ज्ञाता हुआ, उसको ही 'क्रमनियमित' (क्रमबद्ध) पर्याय का सच्चा ज्ञान हुआ, और जो परसन्मुख रहा तो उसको द्रव्य का ज्ञान न होने से 'क्रमनियमित' पर्याय का भी ज्ञान न हुआ (मिथ्याज्ञान रहा) अपने सन्मुख होना, वही सच्चा पुरुषार्थ है [जीव अपने सन्मुख हो सके, इसलिये आचार्यदेव ने समयसार कर्ताकर्म अधिकार में, सर्वविशुद्धाान अधिकार में और नियमसार में सकल कर्तृत्व छुड़ाया है।]

द्रव्य-पर्याय की व्याख्या पर से 'क्रमबद्ध' की सिद्धि

७. श्री प्रवचनसार गाथा ११४ की टीका में श्री जयसेनाचार्य पृष्ठ १६० में कहते हैं कि द्रव्यार्थिकनय से जब वस्तु परीक्षा करने में आती है, तब 'पर्यायसन्तानरूपेण सर्व पर्यायकदम्बकं द्रव्यमेव प्रतिभाति' ऐसा कहा है। इस पर से सिद्ध होता है कि पर्याय कोई भी हो-शुद्ध हो कि अशुद्ध हो-स्वभावरूप हो कि विभावरूप हो-कभी कभी अनिश्चित-अव्यवस्थित-अनिर्णीत - कि अनियमित होती नहीं। पर्याय आगे पीछे हो, ऐसा माननेवालों के प्रति प्रश्न है कि पर्याय का स्वकाल निश्चित है कि अनिश्चित है ? जो निश्चित कहने में आवे तो आगे-पीछे होता नहीं है, जो अनिश्चित हो तो उसमें आगे-पीछे करने का कुछ है नहीं। जो कोई एक भी पर्याय को 'अनिश्चित' मानते हैं, वे उसको प्रमेय (-ज्ञेय) नहीं मानते, कारण कि कोई भी अनिश्चित पदार्थ ज्ञान का विषय नहीं हो सकता, इसलिये वे ज्ञेय-प्रमेय नहीं हैं।

८. वह याद रहे कि जिसको आचार्यदेव समयसार में 'क्रमनियमित' कहते हैं, उसको गुजराती भाषा में 'क्रमबद्ध' कहते हैं, गुजराती शब्दकोष में 'क्रमबद्ध' शब्द का अर्थ निम्नप्रकार दिया है। 'क्रमबद्ध'='नियत क्रमवाले' [देखो, गुजराती जोडणीकोष, श्री गाँधीजी द्वारा सम्पादित

नवजीवन प्रकाशन मंदिर, पृष्ठ २८८] यह अर्थ श्री समयसार में 'क्रमनियमित' के साथ बराबर बैठता है।

९. कोई ऐसा कहते हैं कि विकारी जीव को और पुद्गलों को जिस समय जैसा संयोग मिलेगा, उसकी उसीप्रकार अवस्था-पर्यायें होगी क्योंकि भविष्य की पर्यायें अनिश्चित हैं। उसके प्रति यह प्रश्न है कि 'क्या संयोग कोई परद्रव्य की पर्याय है कि नहीं ?' उत्तर—है ही-जो है तो वह पर्याय उसके द्रव्य में निश्चित थी, ऐसा मानना चाहिये, कारण कि नियम ऐसा है कि हरेक पर्याय अपने-अपने द्रव्य में निश्चित होती है (दे० पेरा नम्बर ४)। अनिश्चित पदार्थ गधे के सींग के समान अवस्तु है, जो ज्ञेय-प्रमेय नहीं होगा।

१०- देखिये, जगत में अनंतानंत जीव अज्ञानी-संसारी है और उससे अनंतानंतगुणे पुद्गल परमाणु हैं, जो उसकी अनादि-अनंत काल तक की सर्व विभावपर्याय अनिश्चित रही, तब वे ज्ञेय अर्थात् ज्ञान का विषय न हुआ—न रहा। प्रवचनसार गाथा १२४ में **ज्ञानस्वरूप** का वर्णन निम्नप्रकार कहा है "टीका-प्रथम तो, अर्थ विकल्प ज्ञान है। वहाँ अर्थ क्या है ? स्व-पर के विभागपूर्वक अवस्थित विश्व अर्थ है, उसके आकारों का अवभासन (प्रकाशन) विकल्प है। और दर्पण के निज विस्तार की भाँति (अर्थात् जैसे दर्पण के निज विस्तार में स्व और पर आकार एक ही साथ प्रकाशित होता है, उसीप्रकार) जिसमें एक ही साथ स्वपराकार प्रकाशित होते हैं, ऐसा अर्थ विकल्प '**ज्ञान**' है।"

११- संयोग का मिलना अनिश्चित हो तो उसका आकार (स्वरूप) कुछ रहा नहीं, तब अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान का विषय एक भी रूपी पदार्थ रहा ही नहीं। पर्याय जब होगी, तब जानेगा, वह तो इंद्रिय मतिज्ञान का विषय है, तो एक मतिज्ञान ही रहा, कारण कि अनंतानंत पुद्गल की पर्यायें विभाविक होती हैं, अनंतानंत जीवों की पर्यायें भी विकारी होती हैं, वे सब अवधिज्ञान-मन:पर्ययज्ञान, श्रुतज्ञान या केवलज्ञान का विषय न हुई। ऐसी परिस्थिति हुई और ज्ञान का 'युगपदवभासमानस्वपराकारोर्थविकल्पस्तद्ज्ञानम्' (टीका- प्रवनसार गाथा १२४) रहा ही नहीं। स्व और पर आकारों निश्चित नहीं है तो जानना किसको और 'युगपद्' जानना किसको ?

१२. वस्तुस्वरूप निश्चय करने से मालूम होता है कि संयोग जिस द्रव्य के जिस समय मिलनेवाला हो, उसी समय में मिलता है। जीव परद्रव्य का अकर्ता है। कोई द्रव्य का परिणमन दूसरे कोई द्रव्य के आधीन नहीं है (देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक, दिल्ली आवृत्ति २, पृष्ठ ४५१) कोई

जीव पुद्गल की पर्याय का कर्ता-हर्ता है नहीं, तब किस संयोग का मिलाना और किसको न मिलाना-संयोग मिलाने का भाव निरर्थक है, इसलिये श्री प्रवचनसार की गाथा १६ की टीका में कहा है कि—

''यहाँ कहा गया है कि निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकता का सम्बन्ध नहीं है कि जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये सामग्री (बाह्यसाधन) ढूँढ़ने की व्यग्रता से जीव (व्यर्थ ही) परतंत्र होते हैं।'' (श्री प्रवचनसार-पाटनी ग्रन्थमाला, पृष्ठ १९)

व्यवहारनय का कथन—व्यवहारनय से निमित्त को किंचित्कर अर्थात् कर्ता कहने में आते हैं, वह कथन तो असद्भूत व्यवहारनय का है। इस संबंध में पण्डित श्री हेमराजजी ने प्रवचनसार गाथा १६ टीका (रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, पृष्ठ २१) भावार्थ में कहा है कि 'छह कारक उपचार असद्भूतनयकर सिद्धि किये जाते हैं, इसकारण असत्य है। निश्चय छह कारक, अपने में ही जोड़े जाते हैं, इसलिये सत्य हैं। क्योंकि वास्तव में कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कर्ता व हर्ता नहीं है, इसलिये व्यवहार कारक (-कारण) असत्य है, अपने को आप ही कर्ता है, इसकारण निश्चयकारक सत्य है।

कर्ताकर्म की प्रवृत्ति हमेशा अन्य निरपेक्ष ही होती है। देखो, समयसार गाथा ३०८ से ३११ यहाँ सर्वविशुद्धिज्ञान अधिकार है, यह कथन ऐसा सूचित करते हैं कि जो कोई ऐसा मानता है कि जीव को अजीव का कर्तृत्व है, और अजीव को जीव का कर्तृत्व है तो उसे सर्व विशुद्ध ज्ञान नहीं है और उसे जीव अजीव के भिन्नत्व की श्रद्धा भी नहीं है।

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है कि 'कर्तुकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात्' धर्मशास्त्रों का प्रयोजन जीवों को वीतरागता-स्वतन्त्रता की प्राप्ति और परतंत्रता निवृत्ति है और धर्म हमेशा पर से निरपेक्षपन से ही प्रगट होता है।

नियमसार गाथा २ की टीका में कहा है कि परम निरपेक्षतया 'निज परमात्मतत्त्वसम्यक् -श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठान शुद्धरत्नत्रयात्मकमार्गो मोक्षोपायः।''

पंचास्तिकाय गाथा २६२ में ''निश्चयनय से शुद्ध वा अशुद्ध पर्यायें-निमित्त होने पर भी वह निमित्त निरपेक्ष होती है'' प्रवचनसार गाथा १६ में '**स्वयंभू**' का स्वरूप वर्णन में उपरोक्त भाव कहा है। तात्पर्य यह है कि जो सम्यक् अनेकांत सिद्धांत है, वह वस्तु के धर्म को जो धर्म जिसरूप में है, उसे उसीरूप में बताते हैं अर्थात् एक ही समय में स्वरूप में अस्ति और विरुद्ध पररूप से नास्तिरूप

तत्त्व को सिद्ध करके स्वतंत्रता, यथार्थता, वीतरागता किसे मानना—यह बताकर, वीतरागता का प्रयोजन सिद्ध करना चाहिये, ऐसा सूचित करते हैं। (क्रमशः)

सम्यक्त्व की आराधना

'ज्ञान, चारित्र और तप—इन तीनों गुणों को उज्ज्वल करनेवाली यह सम्यक्श्रद्धा, प्रधान आराधना है। शेष तीन आराधनायें एक सम्यक्त्व की विद्यमानता में ही आराधकभाव से प्रवर्तमान रहती हैं। इसप्रकार, सम्यक्त्व की अकथनीय और अपूर्व महिमा जानकर उस पवित्र कल्याणमूर्तिरूप सम्यग्दर्शन को इस अनंतानंत दुःखरूप अनादि-संसार की आत्यंतिक निवृत्ति के अर्थ, हे भव्यो! तुम भक्तिपूर्वक अंगीकार करो! प्रतिसमय आराधो!' *[आत्मानुशासन]*

आत्मा का अकर्तृत्व कब और किस प्रकार?

अरहंतदेव का उपासक और मोक्ष का साधक कैसा होता है?

(समयसार, गाथा २३२ से २४४ तक के प्रवचनों से)

आत्मा चैतन्यप्रकाशस्वरूप है।

यह चैतन्यप्रकाशी आत्मा पदार्थों को जानता है किंतु करता नहीं है।

जिसकी दृष्टि में ऐसा चैतन्यप्रकाशी आत्मा आया है, वह जीव चैतन्य से बाह्य ऐसे रागादि परभावों का कर्ता या भोक्ता नहीं होता, किन्तु चैतन्य के आनन्द का ही अनुभव करता है।

इसप्रकार, चैतन्यप्रकाशी आत्मा, स्वभाव से विकार का कर्ता-भोक्ता न होने पर भी, वह कहीं सर्वथा अकर्ता ही नहीं है, कथंचित् कर्ता भी है; कथंचित् कर्तापना इसप्रकार है कि—

—ज्ञानभाव से वह अपनी ज्ञान-आनन्द दशा का ही कर्ता-भोक्ता है और,

—अज्ञानदशा में वह अपने राग या हर्षादि का कर्ता-भोक्ता स्वयं ही है।

कोई अज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होकर निर्मलज्ञानभावरूप से तो परिणमित नहीं होता, राग से पृथक् नहीं होता, उसमें तन्मयतारूप परिणमन करता है, और कहता है कि मेरा आत्मा तो राग का अकर्ता ही है; कर्म ही राग कराता है।—तो ऐसे जीव को आचार्यदेव युक्ति से वस्तुस्थिति समझाते हैं कि:—

हे भाई, तू निर्मल ज्ञानभाव को भी नहीं करता और जो राग हो, उसका कर्तृत्व भी स्वीकार नहीं करता, तो तेरे आत्मा में किसीप्रकार से कर्तापना रहा ही नहीं! तेरी मान्यता सर्वथा अकर्तृत्व की हुई, तब तो अनेकान्तमय श्रुति का (जिनवाणी का) तुझ पर कोप हुआ; अर्थात् तेरी मान्यता जिनवाणी के विरुद्ध हुई; इसलिये तुझ पर श्रुति की प्रसन्नता नहीं हुई; तेरा श्रुतज्ञान सम्यक् नहीं हुआ, किंतु कुश्रुत हुआ।

भाई, तू यह समझ कि—आत्मा किसी पर्याय को तो अवश्य करेगा। और जो जीव ज्ञान-पर्याय को न करे, वह अज्ञानभाव से रागादि करेगा।

जो जीव ज्ञानपर्याय करे, वह रागादि का अकर्ता होता है। हमने जो अकर्तृत्व का उपदेश दिया था, वह तो ज्ञानस्वभावोन्मुख होकर, राग से भेदज्ञान करके, वीतरागी विशुद्धज्ञानभाव प्रगट करने के लिये ही दिया था। आत्मा राग का अकर्ता, ज्ञानस्वरूप है, ऐसा समझनेवाला जीव ज्ञानसन्मुख होकर, राग से पृथक् होकर पर्याय में भी राग का अकर्ता होता है, किंतु जो जीव ज्ञानोन्मुख नहीं होता और राग में ही तन्मय रहता है, वह कहीं राग का अकर्ता नहीं है, वह तो अज्ञानभाव से राग का कर्ता ही है। राग में तन्मय भी रहे और कहे कि मेरा आत्मा राग का कर्ता नहीं है किंतु कर्म उनका कर्ता है, तो वह जीव, श्रुति का समझा ही नहीं है, जिनवाणी की उसे खबर नहीं है। जिनवाणी तो कहती है कि आत्मा कथंचित् कर्ता है।

यहाँ शिष्य तर्क करता है कि—प्रभो! जिनवाणी आत्मा को कथंचित् कर्ता कहती है, वह हमें मान्य है; किसप्रकार? कि आत्मा स्वयं अपने को कर्ता है और राग को नहीं करता; राग तो पुद्गल का कार्य है।

तो आचार्यदेव उससे कहते हैं कि अरे मूढ़! तेरा आत्मा कौन-से आत्मा को करता है? क्या त्रिकाली आत्मा को करता है? त्रिकाली नित्य आत्मा तो कहीं नवीन नहीं होता कि उसका कोई कर्ता हो! और आत्मा के असंख्यप्रदेश भी त्रिकाल ज्यों के त्यों शाश्वत हैं, उन प्रदेशों में भी कुछ करने जैसा नहीं है! त्रिकाली ज्ञानादि गुणोंरूप जो भाव है, उसमें भी कुछ करने जैसा नहीं है; अब

शेष रहती है वर्तमान पर्याय। सामान्य में तो कुछ करने जैसा होता नहीं है, करने जैसा तो विशेष में (-पर्याय में) होता है। अब, पर्याय में मिथ्यात्वादि भाव होने पर भी तू उसका कर्तृत्व तो मानता नहीं है, और कर्म ही उसका कर्ता है—ऐसा तू कहता है, तो तेरे आत्मा में किसीप्रकार का कर्तृत्व रहा ही नहीं; कर्तृत्व के बिना आत्मा ही नहीं रहा। इसलिये हे मूढ़! 'कर्म मुझे मिथ्यात्वादि कराते हैं'—ऐसी अपनी मान्यता में तो तू आत्मघाती हुआ; तूने अपने आत्मा का ही घात किया; और आत्महिंसा ही जीवहिंसा का महान पाप है।

—तो फिर करना क्या?—कि हे भाई! अज्ञानदशा में जो मिथ्यात्वादि भाव हैं, उनका कर्ता अज्ञानभाव से तेरा आत्मा ही है—ऐसा तू समझ। किंतु विशुद्धज्ञानस्वभाव में उसका कर्तृत्व नहीं है—ऐसा समझकर उस स्वभाव की ओर उन्मुख हो। इसलिये पर्याय में भी मिथ्यात्व का अकर्तृत्व हो जायेगा—मिथ्यात्व रहेगा ही नहीं। सम्यग्दर्शनादि निर्मलभाव प्रगट होने से उसमें राग का भी अकर्तृत्व होगा।

भाई! राग में तन्मय रहकर राग का अकर्तृत्व कैसे हो सकता है?—नहीं हो सकता। राग से पृथक् होकर ज्ञानधाम में आ.... तो राग का अकर्ता होगा।

जो जीव इसप्रकार ज्ञानधाम में आया और राग का अकर्ता हुआ, वह वीतराग अरिहंतदेव का सच्चा अनुयायी हुआ और वह जीव स्वयं राग का अकर्ता रहकर अन्य अज्ञानी जीवों में राग का कर्तृत्व है, उसे जानता है; किंतु जड़कर्म रागादि कराते हैं, ऐसा नहीं मानता।

इसप्रकार—

* ज्ञानदशा में शुद्धज्ञानभाव का कर्ता, विकार का अकर्ता;
* अज्ञानदशा में विकार का कर्ता, और पर का तो अकर्ता।
* ज्ञानभाव में या अज्ञानभाव में भी आत्मा पर का तो अकर्ता ही है, और पर-जड़कर्म भी जीव के भाव का अकर्ता ही है।

—ऐसा अरिहंतदेव का मत जो जीव जानता है, वह पर के पृथक्त्व को जानकर, विभाव से भी विमुख होकर, ज्ञान-स्वधाम में आकर सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों को ही करता हुआ, मिथ्यात्वादि का अकर्ता ही रहता है।—वही सच्चा अरिहंत का उपासक और मोक्ष का साधक है।

कौन जीव मोक्ष को साधता है ?

प्रश्न—अज्ञानी जीव को धर्म की श्रद्धा है या नहीं ?

उत्तर—राग से धर्म माननेवाला अज्ञानी जीव, मोक्ष के हेतुरूप धर्म की श्रद्धा नहीं करता, क्योंकि उसे शुद्धज्ञानचैतन्यमय आत्मा की श्रद्धा नहीं है; और मोक्ष के हेतुरूप धर्म तो शुद्धज्ञानचेतनामय आत्मा के ही आश्रित है; इसलिये शुद्धज्ञानमय आत्मा के आश्रय बिना मोक्ष के कारणरूप धर्म की सच्ची श्रद्धा नहीं होती।

प्रश्न—तो अज्ञानी जीव की श्रद्धा कैसी है ?

उत्तर—अज्ञानी जीव भोग के हेतुरूप राग को ही धर्म मानता है, इसलिये वह उसी की श्रद्धा करता है। उपयोग को राग में एकाकार करके, मानों यही मुझे मोक्ष का कारण होगा—ऐसा अज्ञानी मानता है, इसलिये ज्ञानमात्र भूतार्थ धर्म (-कि जो कर्म से छूटने का निमित्त है) का वह अज्ञानी श्रद्धान नहीं करता, किंतु जो कर्मबंध का तथा सांसारिक भोगों की प्राप्ति का कारण है, ऐसे अभूतार्थ धर्म का (-राग का) ही श्रद्धान करता है। इसप्रकार मोक्ष के कारणरूप भूतार्थ-धर्म की श्रद्धा का अभाव होने के कारण अज्ञानी को सच्ची श्रद्धा का अभाव है अर्थात् उसकी श्रद्धा मिथ्या है। जिसप्रकार शुद्धज्ञानमय आत्मा के ज्ञान का अभाव होने के कारण उसे सम्यग्ज्ञान का अभाव है, उसीप्रकार शुद्धज्ञानमय भूतार्थ धर्म की श्रद्धा का अभाव होने के कारण उसे सम्यक्श्रद्धा का भी अभाव है। और जहाँ सम्यक्ज्ञान-श्रद्धान न हो, वहाँ सम्यक्चारित्र तो होगा ही कहाँ से ?—नहीं हो सकता; इसलिये उस अज्ञानी को सम्यक्चारित्र का भी अभाव है।—इसीप्रकार, जो शुद्धज्ञाननय निश्चय का आश्रय नहीं करते और व्यवहार का ही आश्रय करते हैं, उनके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का अभाव है; व्यवहार के आश्रय से वर्तनेवाले वे अज्ञानी, बंधमार्ग में ही प्रवर्तते हैं। जो निश्चय का आश्रय करते हैं, वे ही मोक्षमार्ग को प्राप्त करते हैं।

—इसप्रकार निश्चय का आश्रय ही मोक्षमार्ग का नियम बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि—ऐसा होने से मोक्षार्थी जीवों को निश्चयनय द्वारा व्यवहार का निषेध करना योग्य ही है।

प्रश्न—मोक्षार्थी-सम्यग्दृष्टि कैसा है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि राग से पृथक् है; अपने उपयोग को वह राग से पृथक् ही रखता है; राग

में एकमेक नहीं करता। राग और शुद्धात्मा—इन दोनों का भेदज्ञान करके, शुद्धात्मा के आश्रय से वह सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षमार्गरूप परिणमित होता है।

प्रश्न—बंधमार्गी-मिथ्यादृष्टि कैसा है ?

उत्तर—जो बंधमार्ग में प्रवर्त रहा है, ऐसे मिथ्यादृष्टि का चित्त राग से रँगा हुआ है, वह अपने उपयोग को राग के साथ एकमेक अनुभव करता है, राग की तथा उपयोगस्वरूप आत्मा की भिन्नता को वह नहीं जानता; इसलिये भेदज्ञान के अभाव के कारण शुद्धात्मा का आश्रय न करता हुआ तथा राग का ही आश्रय करके परिणमित होता हुआ वह अज्ञानी जीव कर्मों से बँधता है और संसार में भटकता है।

प्रश्न—अज्ञानी जीव, मोक्षहेतु धर्म की श्रद्धा नहीं करता किंतु भोगहेतुधर्म की ही श्रद्धा करता है—ऐसा आचार्यदेव ने किस हेतु से कहा है ?

उत्तर—इस अध्यात्मप्रधान ग्रंथ में अनुभवप्रधान हेतु देकर आचार्यदेव कहते हैं कि—उस अज्ञानी को शुद्धात्मा के अनुभव का असद्भाव होने से ऐसा निश्चित होता है कि वह जीव, राग के ही अनुभव में अटका है; इसलिये उसे भोगहेतुधर्म का ही (-राग का ही) सेवन है; मोक्षहेतु धर्म का (शुद्धात्मा के आश्रय का) सेवन नहीं है। जीव को या तो शुद्धात्मा का सेवन होता है या फिर राग का सेवन होता है। उसमें एक का अभाव दूसरे का सद्भाव सूचित करता है। जिसे शुद्धात्मा का सेवन (श्रद्धा-ज्ञान-अनुभवन) नहीं है, उसे राग का सेवन अवश्य है। एकसाथ राग में तथा शुद्धात्मा में-दोनों में एकत्वबुद्धि नहीं रह सकती।

प्रश्न—कौन जीव मोक्ष को साधता है ?

उत्तर—शुद्धात्मा में एकत्वबुद्धि करके जो उसी का आश्रय करता है, वह तो मोक्ष को साधता है; उसे राग में एकत्वबुद्धि नहीं रहती। और जिसे राग में एकत्वबुद्धि है, वह राग के आश्रय से बँधता ही है; उसे चैतन्य का आश्रय न होने से वह सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग को प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार व्यवहार के पक्ष का आशय जीव को संसार-परिभ्रमण कराता है... इसलिये आचार्यदेव करुणापूर्वक कहते हैं कि—हे मोक्षार्थी जीवो— संसार-परिभ्रमण से छूटने के लिये तुम व्यवहार के पक्ष की बुद्धि छोड़ों और मोक्ष के लिये शुद्धनय का अवलम्बन करो।

(-समयसार गाथा २७५ के प्रवचन से)

आत्मा को साधने के लिये
पर की चिन्ता छोड़!

हे जीव! तेरा आत्मा जगत से भिन्न है, जगत के पदार्थों का भार तुझ पर नहीं है। किंतु अभी तक निज स्वरूप को भूलकर तूने मात्र पर की चिंता की है। पर की चिंता में लगा हुआ जीव अपने आत्मा को कैसे साध सकेगा? पर की चिंता को छोड़कर निजस्वरूप में झुकनेवाले निश्चिंत पुरुष ही आत्मा को साधते हैं। इसलिये पर की व्यर्थ चिंता छोड़कर निजस्वरूप को सँभाल!

अनादि से लेकर आज तक किसी जीव ने पर का कभी कुछ किया ही नहीं, मात्र स्व का लक्ष चूककर पर की चिंता ही की है। हे भाई! पर के कार्यों का बोझा तुझ पर नहीं है; तू अपने तत्त्व की भावना से च्युत होकर जितनी पर की तत्त्व की चिन्ता करेगा, उतना ही चिन्ता का बोझ तुझ पर है; और उससे तू दुखी है, किंतु तेरी उस चिंता के कारण पर का कोई कार्य नहीं होता, उल्टा तेरा स्वकार्य बिगड़ता है। हे भाई! अनादिकाल से तूने पर संबंधी जो चिंतायें की हैं, वे सब निष्फल गई हैं, इसलिये अब प्रज्ञा द्वारा उस चिंता से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप को जानकर उसमें एकाग्र हो। पर की चिंता करना, वह तेरा स्वरूप नहीं है; इसलिये निश्चिंत होकर निजस्वरूप के चिंतन द्वारा अपने स्वकार्य को साध।

तू परवस्तु को अपना मानकर उसकी चाहे जितनी चिंता कर, तथापि परवस्तु का तो जो परिणमन होना है, वही होगा, लेकिन चिंता के कारण उसमें कोई फेरफार नहीं होगा; और तू परवस्तु को भिन्न जानकर उसकी चिंता (लक्ष) छोड़ देगा, तब भी वह तो स्वयं परिणमित होती ही रहेगी; तेरी चिंता छोड़ देने से कहीं उसका परिणमन अटक नहीं जायेगा।—इसप्रकार तेरी चिंता हो या न हो, उसकी अपेक्षा परद्रव्य को नहीं है। इसलिये हे जीव! तू पर की व्यर्थ चिंता छोड़कर स्वहित में तत्पर हो।

हे भाई! परवस्तु की तूने अभी तक जितनी चिंता की, वह सब प्रारम्भ से अन्त तक असफल हुई है... इसलिये अब तो उसे छोड़.... आत्मा को साधने के लिये पर की चिंता छोड़कर निश्चिंत हो और निजस्वरूप को सम्भाल!—उसके फल में तुझे परम शांति का अनुभव होगा।

(-पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से)

शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिये कटिबद्ध जीव क्या करता है ?

अरे जीवो! आत्मस्वरूप की साधना में कहीं प्रतिबंध न लगाना। आत्मा का स्वरूप साधने के लिये अपने पुरुषार्थ को उठाकर शीघ्र चले आओ स्वभाव की ओर।

जिन्हें चिदानंदस्वरूप आत्मा का भान हुआ है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उपरांत सम्यक् चारित्रदशा भी जिन्हें प्रगट हुई है—ऐसे संत-मुनिवर पूर्ण शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिये शुभपरिणति को भी छोड़ने के उद्यमी हैं। शुभपरिणति के वश रहना भी मोह का ही प्रकार है; जब तक मोह हो, तब तक पूर्ण शुद्ध आत्मा की प्राप्ति कहाँ से होगी ? ऐसा समझकर मुनिवर शुद्धात्मा की प्राप्ति हेतु मोह की समूल नष्ट कर देने के लिये कटिबद्ध होते हैं..... शुभपरिणति को भी छेदकर शुद्धात्मा में स्थिर होते हैं।

आचार्यदेव समझाते हैं कि अरे जीव! मुनिवरों की शुभपरिणति भी मोह का प्रकार है, तो फिर दूसरे अज्ञानियों का तो कहना ही क्या ? शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिये मुनिवर तो शुभ को भी छोड़ने का उद्यम करते हैं, और तू उस शुभ के द्वारा शुद्ध की प्राप्ति होना मानता है; इसलिये तेरी मान्यता मुनियों से विरुद्ध हुई। जिसके अभिप्राय में ही शुभराग का आदर है, वह तो मोह की पुष्टि करता है—उस पर तो महा दु:ख की आफत (विपदा) ज्यों की त्यों है। यहाँ तो कहते हैं कि—मोक्षमार्ग की आराधना करनेवाले संतों को भी बीच में जितनी शुभपरिणति आती है, उतना दु:ख-संकट है। शुद्धोपयोग ही सुख का धाम है। इसलिये हे भाई! तू शुद्ध स्वभाव के प्रति सावधान हो... कटिबद्ध होकर मोह को जीतने का उद्यम कर.... शुद्धोपयोग के प्रति ही उत्साह एवं प्रयत्न कर। उस शुद्धोपयोग द्वारा ही परम आनंदरूप शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।

शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिये जो मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने को कटिबद्ध हुआ है—पुरुषार्थ को बढ़ाया है—वह जीव मोह को किसप्रकार जीतता है ?—उसका अद्भुत वर्णन आचार्यदेव ने इस प्रवचनसार की ८०-८१-८२ वीं गाथाओं में किया है।

शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिये कटिबद्ध होकर जिसने पुरुषार्थ बढ़ाया है, वह जीव प्रथम तो सर्व प्रकार से शुद्ध ऐसे भगवान अरिहंतदेव के स्वरूप का निर्णय करता है। द्रव्य से शुद्ध, गुण से शुद्ध, एवं पर्याय से भी शुद्ध—ऐसे अरिहंतदेव का स्वरूप जानने पर वह जीव आत्मा के

शुद्धस्वरूप को भी जान लेता है। सर्वप्रकार से शुद्ध ऐसे भगवान सर्वज्ञदेव को जाने और शुद्धात्मा की प्राप्ति का पुरुषार्थ न हो—ऐसा हो ही नहीं सकता। अरे जीवो! आत्मस्वरूप की साधना में कहीं प्रतिबंध नहीं लगाना.... अपना पुरुषार्थ बढ़ाकर उन्नति में स्वविकास में चले जाओ आत्मा के स्वभाव में! बीच में राग के प्रतिबंध में न रुकना; भवस्थिति या काल का नाम लेकर पुरुषार्थ पर प्रतिबंध मत लगाना। स्वभाव का पुरुषार्थ करनेवाले की भवस्थिति पक ही चुकी है, उसका मोक्षकाल निकट आ ही गया है। इसमें जो जीव शंका करे, उसने मोक्ष का सच्चा पुरुषार्थ किया ही नहीं है और सर्वज्ञ भगवान को भी उसने पहिचाना नहीं। भगवान ने स्वयं पुरुषार्थ द्वारा भव को छेद डाला है और भगवान की वाणी भी भव छेदक है। भगवान की वाणी में भव को छेदने का उपदेश है। आत्मा के स्वभाव का पुरुषार्थ करे और भव का छेदन न हो, ऐसा नहीं हो सकता।

सुखधाम

पुण्य नहीं, किंतु आत्मा

चैतन्यस्वरूप आत्मा परम महिमावान अनंत सुख का धाम है। उसकी महत्ता जिन्हें भासित नहीं होती, वे बाह्य में—इन्द्रियविषय में या उनके हेतुभूत पुण्य में सुख मानते हैं; परंतु वास्तव में वे पुण्य तो तृष्णा का उद्भव करके आकुलता देनेवाले हैं—दुःखदायक हैं। सुखदाय तो एक चैतन्यधाम आत्मा ही है। सुख को किसी पुण्य का या इन्द्रियविषयों का आलम्बन नहीं है, सुख को तो आत्मस्वभाव का ही अवलम्बन है। ऐसे चैतन्य की रुचिरूपी बीज में से तो केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दरूपी फसल उगेगी और पुण्य की रुचि में से विषयों की तृष्णारूपी विषाक्त फल पैदा होंगे।

अज्ञानीजन चैतन्यसुख को चूककर इन्द्रियविषयों में सुख मानते हैं, इसलिये वे सदैव तृष्णा से जलते हुए विषयों में ही लीन रहते हैं और दुःखी होते हैं। ज्ञानी अपने चिदानंदतत्त्व की सन्मुखता द्वारा चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख को जानते हुए, तथा विषयों में किंचित्मात्र सुख न मानते हुए आनन्दधाम ऐसे आत्मा में ही सदैव दिन-रात लीन रहते हैं।

'सुखधाम अनंत सु संत चही,
दिनरात रहें तद् ध्यान महीं'

संत मुनिवर और साधक धर्मात्मा अनंत सुख के धाम ऐसे चैतन्य को ही चाहते हैं, तथा दिन-रात उसके ध्यान में लीन रहते हैं। इस जगत में सुख का धाम तो आत्मा ही है। सम्यग्दृष्टि संतों ने आत्मा के विषयातीत सुख का स्वाद चख लिया है। इसलिये वे दिन-रात उसी की रुचि में लीन रहते हैं, एक क्षण भी चैतन्य की रुचि छोड़कर विषयों की-राग की-पुण्य की रुचि नहीं करते। वे जानते हैं कि मेरे सुख का धाम पुण्य नहीं है, किंतु आत्मा ही मेरे सुख का धाम है। सुख के धाम ऐसे चैतन्यतत्त्व को जिन्होंने नहीं देखा। वे जीव बाह्य में सुख मानते हैं, इसलिये काया और कषाय से किंचित् भी निवृत्त नहीं हुए हैं। काया का तात्पर्य समस्त इन्द्रियविषयों से और कषाय का तात्पर्य पुण्यपरिणामों से है; उनमें जो सुख मानता हो, वह उनसे निवृत्त कैसे होगा? बाह्य में भले ही इन्द्रियविषयों का संयोग दिखाई न दे, किंतु उसके अभिप्राय में तो इन्द्रियविषयों का सम्पर्क बना ही है। जहाँ चैतन्य का संग (-रुचि, श्रद्धा, ज्ञान, एकाग्रता) नहीं है, वहाँ विषयों का संग अवश्य ही होगा; और विषयों की वृत्ति किसे होती है?—कि जो विषयतृष्णा से दुःखी हो उसी को। यदि सुखी हो—तृप्त हो तो विषयों की तृष्णा क्यों होगी? इसलिये पुण्यफल भोगने की तृष्णा दुःख ही है; सुख तो ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्य के उपभोग में ही है।

आत्मा ज्ञानतत्त्व है; शुभाशुभराग, वह ज्ञानतत्त्व से विपरीत है। राग शुभ हो या अशुभ हो, मिथ्यादृष्टि का हो या सम्यग्दृष्टि का हो, वह ज्ञानतत्त्व से बाहर ही है। ऐसा ज्ञानतत्त्व स्वयं ही सुखस्वरूप है। जिसप्रकार आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसीप्रकार आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है; उसका ज्ञान और सुख दोनों इन्द्रियों से पार है, राग से भी पार है।

शुभराग पुण्यबंध का कारण है, किंतु वह कहीं सुख का कारण नहीं है। पुण्यबंध भी दुःख का ही साधन है, क्योंकि उस पुण्य के फल में जो इन्द्रियविषयों की सामग्री मिलेगी, उस सामग्री की रुचि रखनेवाले जीव तृष्णा से दुःखी होते हैं। सुख तो अंतर्मुख अतीन्द्रिय चैतन्य के अनुभव में ही है। इसलिये सुख का धाम आत्मा है, पुण्य सुख का धाम नहीं है। साधन सामग्री के अवलम्बन में सुख नहीं है किंतु स्वभाव के अवलम्बन में सुख है।

जिसप्रकार रेगिस्तान में भटकता हुआ हिरन मरीचिका (मृग-जल) में जल प्राप्त करने की इच्छा से वेगपूर्वक दौड़ता हुआ दुःखी होता है, मरीचिका के जल से कभी उसकी तृष्णा शांत नहीं

होती; उसीप्रकार इस संसाररूपी रेगिस्तान में पाँच इन्द्रियों के विषयरूप पुण्य-फल तो मगृमरीचिका के जल समान हैं, उनमें सचमुच जल नहीं है किंतु दृष्टिभ्रम के कारण अज्ञानी ने वहाँ सुख की कल्पना कर ली है, इसलिये विषयों से सुख प्राप्त करने की लालसा में वेगपूर्वक दौड़ते हुए अज्ञानी जीव तृष्णा से दु:खी होते हैं; विषयों में प्रीति करने से कभी सुख प्राप्त नहीं होता। अहो जीवो! चैतन्यतत्त्व में ही सुख है, बाह्य में जगत के किन्हीं विषयों में सुख नहीं है; इसलिये बाह्यवृत्ति छोड़कर अंतरोन्मुख हो... इसप्रकार संत, सुख का धाम बतलाते हैं, और विषय-तृष्णा के वेग में बहते हुए जीवों को लौटाते हैं कि अरे जीवो! इस चैतन्य की ओर उन्मुख होओ... वही सुख का धाम है, वही आनन्द का धाम है।

बाह्य में पुण्यफल की सामग्री प्राप्त होने पर अज्ञानी मानता है कि मुझे सुख का धाम मिल गया। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे मूढ़! वह तेरे सुख का साधन नहीं है; परंतु जितना तूने उस सामग्री का अवलम्बन लिया, उतना ही दु:खी हुआ। सुख तो समस्त विकल्पों से रहित परम चैतन्य के आह्लादरूप स्वरूपतृप्ति में ही है। चैतन्यतत्त्व स्वयं ही सुख का साधन है। चैतन्य का जो अतीन्द्रिय सुख है-वही सच्चा सुख है, इसके अतिरिक्त बाह्य विशयों में जो इन्द्रिय सुख भासित होता है, वह तो मृगजल की भाँति मात्र अज्ञानी की कल्पना ही है। जो अतीन्द्रिय वास्तविक सुख है, वह तो आत्मा से ही उत्पन्न एवं विषयों से पार है, वह सुख आत्मा का ही अवलम्बन करेगा किंतु विषयों का अवलम्बन नहीं करेगा।—ऐसा स्वाधीन सुख ही सच्चा सुख है। विषयों के आधीन होकर अज्ञानी जो सुख मानता है, वह सुख नहीं किंतु दु:ख ही है।

* इन्द्रिय सुख तो पर के संबंधयुक्त होने से पराधीन है, और अतीन्द्रिय सुख पर के संबंध रहित आत्मा के ही आधीन है।

* इन्द्रिय सुख तो अनेक विघ्नवाला है; खानपान आदि की अनेक तृष्णाओं के कारण उसमें आकुलता है, और अतीन्द्रिय सुख तो विघ्नरहित है। उसमें विषयों को प्राप्त करने की आकुलता नहीं किंतु तृप्ति है।

* इन्द्रियसुख तो विच्छिन्न है; साता का उदय पूर्ण होते ही असाता से जीव दु:खी होता है, इन्द्रिय सुख स्थायी नहीं रहता; जिसमें सुख की कल्पना की हो, वह सामग्री भी स्थायी नहीं रहती। जबकि अतीन्द्रिय सुख के साधनरूप चैतन्यतत्त्व तो स्थायी है और चैतन्य के आश्रय से होनेवाला वह अतीन्द्रिय सुख अच्छिन्न है।

✻ इन्द्रियसुख तो बंध का कारण है; पुण्य का फल भोगने की जो रागवृत्ति, वह नवीन कर्मबंध का कारण होती है और चैतन्य के अनुभवरूप अतीन्द्रिय सुख तो रागरहित होने से बंध का कारण नहीं होता, वह तो मोक्ष का कारण होता है। और—

✻ पुण्यफल के आधीन वर्तता हुआ वह इन्द्रिय सुख तो विषम है; उसमें न्यूताधिकता होती रहने के कारण वह अत्यंत अस्थिर है, वह एक समान नहीं रहता। पूर्ण अतीन्द्रिय सुख आत्मा के आधार से वर्तता है, इसलिये वह न्यूनाधिकतारहित स्थिर रहता है। जो पूर्ण सुख प्रगट हुआ, सो हुआ, फिर वह सदैव ज्यों का त्यों बना रहता है।

—इसप्रकार आत्माश्रित अतीन्द्रिय सुख ही सच्चा सुख है, वही प्रशंसनीय एवं इच्छनीय है; इन्द्रिय सुख तो दुःख ही है, वह प्रशंसनीय नहीं है-इच्छनीय नहीं है। तथा जो इन्द्रिय सुख है, वह दुःख ही है, तो फिर उसके साधनरूप ऐसा पुण्य भी पाप की भाँति दुःख का ही साधन है—ऐसा सिद्ध होता है। एक अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव ही सुख का साधन है; इसलिये उसे सर्व उद्यम द्वारा सम्यक्-प्रकार से जानकर, उसमें एकाग्रता द्वारा राग-द्वेष को छोड़कर शुद्धोपयोगी होना ही शरण है, वही सुख है, वही मोक्ष का उपाय है। *[प्रवचनसार गाथा ७५-७६ के प्रवचनों से]*

धर्मवात्सल्य का महान प्रतीक
रक्षाबंधन पर्व

रक्षाबंधन पर्व जैनों का एक महान ऐतिहासिक पर्व है। इस पर्व के साथ ७०० मुनियों की रक्षा का प्रसंग तथा धर्म रक्षा की महान भावना जुड़ी हुई है। ७०० मुनियों के संघ के अधिपति आचार्य श्री अकंपनस्वामी ने उज्जैन नगरी में संध के समस्त मुनियों को मौन रहने की आज्ञा दी... और संघ की रक्षा के हेतु श्रुतसागर मुनि को वाद-विवाद के स्थान पर जाकर ध्यान में खड़े रहने की आज्ञा दी। यहाँ उनके हृदय में बहता हुआ वात्सल्य का स्रोत दिखाई देता है... संघ पर होनेवाले उपसर्ग की सम्भावना ज्ञात होने पर उनके हृदय में भरा हुआ धर्मवात्सल्य का सागर सहज ही उमड़ पड़ता है।

फिर, अर्धरात्रि के समय जब दुष्ट मंत्री मुनि पर तलवारों से प्रहार करने के लिये तैयार होते हैं, उससमय जैनधर्म का भक्त यक्षदेव मुनि की रक्षा करके धर्म और धर्मात्मा के प्रति अपना भक्तिभरा वात्सल्य प्रगट करता है।

फिर, वह वत्सलता अपना साम्राज्य फैलाती हुई मिथिलापुर आकर आचार्य श्रुतसागर को अपने आधीन करती है... वात्सल्य के आधीन हुआ उनका हृदय मुनियों पर उपसर्ग देखते ही मुनिसंघ के प्रति वात्सल्य से उमड़ पड़ता है और मौनरूपी किनारा तोड़कर 'हा!'—ऐसे उद्गार द्वारा वत्सलता प्रगट होती है... फिर तो महामुनि विष्णुकुमार भी उस वात्सल्य के प्रवाह में बहने लगते हैं और ७०० मुनियों की रक्षा के लिये तैयार होते हैं।

दूसरी ओर हस्तिनापुर के श्रावक भी, जब तक मुनिवरों का उपसर्ग दूर नहीं होगा, तब तक अन्न-जल का त्याग करके धर्म और धर्मात्मा के प्रति अपना वात्सल्यभाव व्यक्त करते हैं... और अंत में उस वत्सलता की ऐसी महान विजय हुई कि जिसके प्रताप से ७०० मुनियों की रक्षा हो गई.... जैनधर्म की महान प्रभावना हुई.... और मुनिरक्षा का वह दिवस वात्सल्य के महानपर्व रूप में प्रसिद्ध हो गया।

आज भी भारतवर्ष में जगह-जगह वह पर्व मनाया जाता है। बहिन अपने भाई के हाथ में राखी बाँधती है, वह भी वात्सल्य का ही एक प्रतीक है। जहाँ वात्सल्य हो, वहाँ रक्षा की भावना होती ही है। तदुपरान्तु 'हमारे धर्म की रक्षा करो'—ऐसी भावनापूर्वक भक्तजन जिन-मंदिर आदि धर्मस्थानों में भी राखी बाँधते हैं तथा धर्म और धर्मात्माओं के प्रति आदरपूर्वक वात्सल्य व्यक्त करते हैं।

धर्मात्मा को या धर्म की प्रीतिवाले जिज्ञासु को, धर्म के प्रति तथा धर्मधुरंधर धर्मात्माओं के प्रति परमप्रीति अवश्य होती है... ऐसा प्रीतिरूपी वात्सल्य, वह सम्यक्त्व का एक मुख्य अंग है।

इसप्रकार वात्सल्य के साथ संयुक्त धर्म प्रसंगों को तथा धर्मात्माओं को याद करके सारे देश में वात्सल्य प्रवाहित करना चाहिये।— धर्मवत्सल संतों को नमस्कार हो!

नया प्रकाशन

गुजराती टू हिन्दी शब्द कोष—

जिसमें पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों समझने में सुगम हो जाये ऐसा संक्षेप में सुन्दर शब्द संग्रह है। मूल्य ०-२५। हमारे साहित्य प्रकाशन विभाग के सूचीपत्र जिसमें पुस्तकों का स्वरूप ख्याल में आ जाये इस ढंग से परिचय है।

दशलक्षण धर्म (प्रवचन)

जिसमें उत्तम क्षमादि धर्मों के ऊपर आध्यात्मिक सुंदर शैली से विवेचन है। निश्चय-व्यवहार धर्म कब और कैसे होता है ? यथार्थ भाव भासन पूर्वक आत्मिक शांति, स्वतंत्रता, यथार्थता का स्वाद लेने के लिये इसे अवश्य पढ़िये। पृष्ठ ९५, मूल्य -०.५३।

समयसार प्रवचन भाग १ पृष्ठ ४८८, मूल्य ४.७५

समयसारजी शास्त्र की गाथा १ से १२ ऊपर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का अपूर्व प्रवचन है। निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा उत्तम ढंग से की गई है। यह अच्छी तरह संशोधित दूसरी आवृत्ति है। थोक लेने पर २५ प्रतिशत कमीशन दिया जावेगा। समयसारजी ग्रंथाधिराज है उसमें प्रवेश पाने के लिये समयसारजी के ऊपर किये गये प्रवचन भाग १-२-३ अवश्य पढ़िये।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसारजी मूलग्रन्थ संस्कृत टीका सहित छप रहा है—

सर्वोत्तम सुंदर पद्धति से छपते हैं और अध्यात्म विद्या का सर्वोत्तम और सुगम ग्रंथाधिराज सभी तत्त्व जिज्ञासुओं के हाथ में आवे और लाभ लें, ऐसी भावना से सस्ते में ही दिये जायेंगे, प्रकाशित होने में शायद तीन मास लग जायेंगे। बाद प्रवचनसारजी शास्त्र छपेंगे।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।